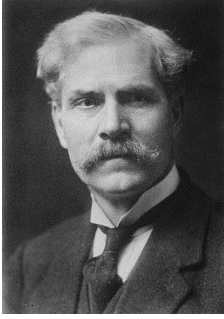


सांप्रदायिक अधिनिर्णय और पूना समझौता-1932

Avinash Kumar
Assistant Professor & Head
Department of History
Patna College, Patna-800005
Mobile No. 6202393206
E-mail Id: avinashisavailable@gmail.com



ब्रिटेन के प्रधानमंत्री रेम्जे मेकडोनाल्ड ने 16 अगस्त 1932 को 'साम्प्रदायिक निर्णय' की घोषणा की। साम्प्रदायिक निर्णय, उपनिवेशवादी शासन की 'फूट डालो और राज करो' की नीति का एक और प्रमाण था



पहले बर्तानवी लेबर प्रधानमंत्री रेम्जे मैकडोनाल्ड(1932)

साम्प्रदायिक निर्णय के प्रावधान: सांप्रदायिक अधिनिर्णय के तहत निम्नलिखित प्रावधान किए गए थे:

- ❖ मुसलमानों, सिखों एवं यूरोपियों को पृथक साम्प्रदायिक मताधिकार प्रदान किया गया।
- ❖ आंग्ल भारतीयों, भारतीय ईसाईयों तथा स्त्रियों को भी पृथक सांप्रदायिक मताधिकार प्रदान किया गया।
- ❖ प्रांतीय विधानमंडल में साम्प्रदायिक आधार पर स्थानों का वितरण किया गया।
- ❖ सभी प्रांतों को विभिन्न सम्प्रदायों के निर्वाचन क्षेत्रों में विभक्त कर दिया गया।
- ❖ अन्य शेष मतदाता, जिन्हें पृथक निर्वाचन क्षेत्रों में मताधिकार प्राप्त नहीं हो सका था उन्हें सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में मतदान का अधिकार प्रदान किया गया।
- ❖ बम्बई प्रांत में सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में से सात स्थान मराठों के लिये आरक्षित कर दिये गये।
- ❖ विशेष निर्वाचन क्षेत्रों में दलित जाति के मतदाताओं के लिये दोहरी व्यवस्था की गयी। उन्हें सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों तथा विशेष निर्वाचन क्षेत्रों दोनों जगह मतदान का अधिकार दिया गया।
- ❖ सामान्य निर्वाचन क्षेत्रों में दलित जातियों के निर्वाचन का अधिकार बना रहा।
- ❖ दलित जातियों के लिये विशेष निर्वाचन की यह व्यवस्था बीस वर्षों के लिये की गयी।
- ❖ दलितों को अल्पसंख्यक के रूप में मान्यता दी गयी।

कांग्रेस का पक्ष यद्यपि कांग्रेस साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध थी किंतु अल्पसंख्यकों से विचार-विमर्श किये बिना वह इसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन के पक्ष में नहीं थी। इस प्रकार साम्प्रदायिक निर्णय से गहरी असहमति रखते हुये कांग्रेस ने निर्णय किया कि वह न तो साम्प्रदायिक निर्णय को स्वीकार करेगी न ही इसे अस्वीकार करेगी।

साम्प्रदायिक निर्णय द्वारा, दलितों को सामान्य हिन्दुओं से पृथक कर एक अल्पसंख्यक वर्ग के रूप में मान्यता देने तथा पृथक प्रतिनिधित्व प्रदान करने का सभी राष्ट्रवादियों ने तीव्र विरोध किया।

गांधीजी की प्रतिक्रिया

गांधीजी ने साम्प्रदायिक निर्णय की राष्ट्रीय एकता एवं भारतीय राष्ट्रवाद पर प्रहार के रूप में देखा। उनका मत था कि यह हिन्दुओं एवं दलित वर्ग दोनों के लिये खतरनाक है। उनका कहना था कि दलित वर्ग की सामाजिक हालत सुधारने के लिये इसमें कोई व्यवस्था नहीं की गयी है। एक बार यदि पिछड़े एवं दलित वर्ग को पृथक समुदाय का दर्जा प्रदान कर दिया गया तो अशुभ्यता को दूर करने का मुद्दा पिछड़ा जायेगा और हिन्दू समाज में सुधार की प्रक्रिया अवरुद्ध हो जायेगी। उन्होंने स्पष्ट किया कि पृथक निर्वाचक मंडल का सबसे खतरनाक पहलू यह है कि यह अछूतों के सदैव अछूत बने रहने की बात सुनिश्चित करता है। दलितों के हितों की सुरक्षा के नाम पर न ही विधानमंडलों या सरकारी सेवाओं में सीटें आरक्षित करने की

आवश्यकता है और न ही उन्हें पृथक समुदाय बनाने की। अपितु सबसे मुख्य जरूरत समाज से अशुभता की कुरीति को जड़ से उखाड़ फेंकने की है।

गांधीजी ने मांग की कि दलित वर्ग के प्रतिनिधियों का निर्वाचन आत्म-निर्वाचन मंडल के माध्यम से वयस्क मताधिकार के आधार पर होना चाहिए। तथापि उन्होंने दलित वर्ग के लिये बड़ी संख्या में सीटें आरक्षित करने की मांग का विरोध नहीं किया। अपनी मांगों को स्वीकार किये जाने के लिये 20 सितंबर 1932 से गांधी जी आमरण अनशन पर बैठ गये। कई राजनीतिज्ञों ने गांधीजी के अनशन को राजनीतिक आंदोलन की सही दिशा से भटकना कहा। इस बीच विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं के नेता, जिनमें एम.सी. रजा, मदनमोहन मालवीय तथा बी.आर. अम्बेडकर सम्मिलित थे, सक्रिय हो गये। अंततः एक समझौता हुआ, जिसे पूना समझौता या पूनापैक्ट के नाम से जाना जाता है।

पूना समझौता

सितंबर 1932 में डा. अम्बेडकर तथा अन्य हिन्दू नेताओं के प्रयत्न से सवर्ण हिन्दुओं तथा दलितों के मध्य एक समझौता किया गया। इसे पूना समझौते के नाम से जाना जाता है। इस समझौते के अनुसार-

1. दलित वर्ग के लिये पृथक निर्वाचक मंडल समाप्त कर दिया गया तथा व्यवस्थापिका सभा में अछूतों के स्थान हिन्दुओं के अंतर्गत ही सुरक्षित रखे गये।
2. लेकिन प्रांतीय विधानमंडलों में दलितों के लिये आरक्षित सीटों की संख्या 47 से बढ़कर 147 कर दी गयी।
3. मद्रास में 30, बंगाल में 30, मध्य प्रांत एवं संयुक्त प्रांत में 20-20, बिहार एवं उड़ीसा में 18-18, बम्बई एवं सिंध में 15-15, पंजाब में 8 तथा असम में 7 स्थान दलितों के लिये सुरक्षित किये गये।
4. केंद्रीय विधानमंडल में दलित वर्ग को प्रतिनिधित्व देने के लिये संयुक्त व्यवस्था को मान्यता दी गयी।
5. दलित वर्ग को सार्वजनिक सेवाओं तथा स्थानीय संस्थाओं में उनकी शैक्षणिक योग्यता के आधार पर उचित प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की गयी।

सरकार ने पूना समझौते को साम्प्रदायिक निर्णय का संशोधित रूप मानकर उसे स्वीकार कर लिया।



24 सितम्बर 1932 को यरवदा केंद्रीय कारागार में एम आर जयकर, तेज बहादुर व डॉ॰ आम्बेडकर (दाएँ से दूसरे)

गांधीजी का हरिजन अभियान

सांप्रदायिक निर्णय द्वारा भारतीयों को विभाजित करने तथा पुन पैक्ट के द्वारा हिन्दुओं से दलितों को पृथक करने की व्यवस्थाओं ने गांधीजी को बुरी तरह आहत कर दिया था। फिर भी गांधीजी ने पूना समझौते के प्रावधानों का पूरी तरह पालन किये जाने का वचन दिया। अपने वचन को पूरा करने के उद्देश्य से गांधीजी ने अपने अन्य कार्यों को छोड़ दिया तथा पूर्णरूपेण 'अश्वस्थता निवारण अभियान' में जुट गये। उन्होंने अपना अभियान यरवदा जेल से ही प्रारंभ कर दिया था तत्पश्चात अगस्त 1933 में जेल से रिहा होने के उपरांत उनके आंदोलन में और तेजी आ गयी।

अपनी कारावास की अवधि में ही उन्होंने सितम्बर 1932 में 'अखिल भारतीय अश्वस्थता विरोधी लीग' का गठन किया तथा जनवरी 1933 में उन्होंने **हरिजन** नामक साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारंभ किया। जेल से रिहाई के उपरांत वे सत्याग्रह आश्रम वर्धा आ गये। साबरमती आश्रम, गांधीजी ने **1930** में ही छोड़ दिया था और प्रतिज्ञा की थी कि स्वराज्य मिलने के पश्चात ही वे साबरमती आश्रम (अहमदाबाद) में वापस लौटेंगे। 7 नवंबर 1933 को वर्धा से गांधीजी ने अपनी '**हरिजन यात्रा**' प्रारंभ की। नवंबर 1933 से जुलाई 1934 तक गांधीजी ने पूरे देश की यात्रा की तथा लगभग 20 हजार किलोमीटर का सफर तय किया। अपनी यात्रा के द्वारा गांधीजी ने स्वयं द्वारा स्थापित संगठन 'हरिजन सेवक संघ' जगह-जगह पर कोष एकत्रित करने का कार्य भी किया। गांधीजी की इस यात्रा का मुख्य उद्देश्य था-हर रूप में अश्वस्थता को समाप्त करना। उन्होंने कांग्रेस कार्यकर्ताओं से आग्रह किया की गांधीजी का भ्रमण हरिजनों के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक उत्थान का कार्य करें। दलितों को 'हरिजन' नाम सर्वप्रथम गांधीजी ने ही दिया था। हरिजन उत्थान के इस अभियान में गांधीजी 8 मई व 16 अगस्त 1933 को दो बार लंबे अनशन पर बैठे। उनके अनशन का उद्देश्य, अपने प्रयासों की गंभीरता एवं अहमियत से अपने समर्थकों को अवगत कराना था। अनशन की रणनीति ने राष्ट्रवादी खेमे को बहुत प्रभावित किया। बहुत से लोग भावुक हो गये।

अपने हरिजन आंदोलन के दौरान गांधीजी को हर कदम पर सामाजिक प्रतिक्रियावादियों तथा कट्टरपंथियों के विरोध का सामना करना पड़ा। उनके खिलाफ प्रदर्शन किये तथा उन पर हिंदूवाद पर कुठाराघात करने का आरोप लगाया गया। सविनय अवज्ञा आंदोलन तथा कांग्रेस का विरोध करने के निमित्त, सरकार ने इन प्रतिक्रियावादी तत्वों का भरपूर साथ दिया। अगस्त 1934 में लेजिस्लेटिव एसेंबली में 'मंदिर प्रवेश विधेयक' को गिराकर, सरकार ने इन्हें अनुग्रहित करने का प्रयत्न किया। बंगाल में कट्टरपंथी हिन्दू विचारकों ने पूना समझौते द्वारा हरिजनों को हिन्दू अल्पसंख्यक का दर्जा दिये जाने की अवधारणा को पूर्णतया: खारिज कर दिया।

गांधी जी के जाति संबंधी विचार

गांधीजी ने अपने पूरे हरिजन आंदोलन, सामाजिक कार्य एवं अनशनों में कुछ मूलभूत तथ्यों पर सर्वाधिक जोर दिया-

1. हिन्दू समाज में हरिजनों पर किये जा रहे अत्याचार तथा भेदभाव को उन्होंने तीव्र भर्त्सना की।
2. दूसरा प्रमुख मुद्दा था- छुआछूत को जड़ से समाप्त करना। उन्होंने अश्वस्थता की कुरीति को समूल नष्ट करने तथा हरिजनों को मंदिर में प्रवेश का अधिकार दिये जाने की मांग की।
3. उन्होंने इस बात की मांग उठायी कि हिन्दुओं द्वारा सदियों से हरिजनों पर जो अत्याचार किया जाता रहा है, उसे अतिशीघ्र बंद किया जाना चाहिए तथा इस बात का प्रायश्चित्त करना चाहिए। शायद यही वजह थी कि गांधीजी ने अम्बेडकर या अन्य हरिजन नेताओं की आलोचनाओं का कभी बुरा नहीं माना। उन्होंने हिन्दू समाज को चेतावनी दी कि "यदि अश्वस्थता का रोग समाप्त नहीं हुआ तो हिन्दू समाज समाप्त हो जायेगा। यदि हिंदूवाद को जीवित रखना है तो अश्वस्थता को समाप्त करना ही होगा"।

4. गांधीजी का सम्पूर्ण हरिजन अभियान मानवता एवं तर्क के सिद्धांत पर अवलंबित था। उन्होंने कहा कि शास्त्र छुआछूत की इजाजत नहीं देते हैं। लेकिन यदि वे ऐसी अवधारणा प्रस्तुत करते हैं तो हमें उनकी उपेक्षा कर देनी चाहिए क्योंकि ऐसा करना मानवीय प्रतिष्ठा के विरुद्ध है।

गांधीजी अस्पृश्यता निवारण के मुद्दे को अंतर्जातीय विवाह एवं अंतर्जातीय भोज जैसे मुद्दों के साथ जोड़ने के पक्षधर नहीं थे क्योंकि उनका मानना था कि ये चीजें स्वयं हिन्दू सवर्ण समाज एवं हरिजनों के बीच में भी हैं। उनका कहना था कि उनके हरिजन अभियान का मुख्य उद्देश्य, उन कठिनाइयों एवं कुरीतियों को दूर करना है, जिससे हरिजन समाज शोषित और पिछड़ा है।

इसी तरह उन्होंने जाति निवारण तथा छुआछूत निवारण में भी भेद किया। इस मुद्दे पर वे डा. अम्बेडकर के इन विचारों से असहमत थे कि छुआछूत की बुराई जाति प्रथा की देन है तथा जब तक जाति प्रथा बनी रहेगी यह बुराई भी जीवित रहेगी। अतः जाति प्रथा को समाप्त किये बिना अछूतों का उद्धार संभव नहीं है। गांधीजी का कहना था कि वर्णाश्रम व्यवस्था के अपने कुछ दोष हो सकते हैं, लेकिन इसमें कोई पाप नहीं है। हां, छुआछूत अवश्य पाप है। उनका तर्क था कि छुआछूत, जाति प्रथा के कारण नहीं अपितु ऊच-नीच के कृत्रिम विभाजन के कारण है। यदि जातियां एक दूसरे की सहयोगी एवं पूरक बन कर रहें तो जाति प्रथा में कोई दोष नहीं है। कोई भी जाति न उच्च है न निम्न। उन्होंने वर्णाश्रम व्यवस्था के समर्थक एवं विरोधियों दोनों से आह्वान किया कि वे आपस में मिलकर काम करें क्योंकि दोनों ही छुआछूत के विरुद्ध हैं।

गांधीजी का विचार था कि छुआछूत की बुराई का उन्मूलन करने से उसका साम्प्रदायिकता एवं ऐसे ही अन्य मुद्दों पर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा, जबकि इसकी उपस्थिति का तात्पर्य होगा जाति प्रथा में उच्च एवं निम्न की अवधारणा को स्वीकार करना। गांधीजी ने छुआछूत के समर्थक दकियानूसी प्रतिक्रियावादी हिन्दुओं को 'सेनापति' कहा। किंतु वे इन पर किसी प्रकार का दबाव डाले जाने के विरोधी थे। उनका कहना था कि इन्हें समझा-बुझाकर तथा इनके दिलों को जीतकर इन्हें सही रास्ते पर लाना होगा न कि इन पर दबाव डालकर। उन्होंने स्पष्ट किया कि उनके अनशन का उद्देश्य, उनके द्वारा चलाये जा रहे छुआछूत विरोधी आंदोलन के संबंध में उनके मित्रों एवं अनुयायियों के उत्साह को दुगना करना है।

अभियान का प्रभाव

गांधीजी ने बार-बार यह बात दुहराई कि उनके हरिजन अभियान का उद्देश्य राजनीतिक नहीं है अपितु यह हिन्दू समाज एवं हिन्दुत्व का शुद्धीकरण आंदोलन है। वास्तव में गांधीजी ने अपने हरिजन अभियान के दौरान केवल हरिजनों के लिये ही कार्य नहीं किया। उन्होंने कांग्रेस के कार्यकर्ताओं को बताया कि जनआंदोलन के निष्क्रिय या समाप्त हो जाने पर वे स्वयं को किस प्रकार के रचनात्मक कार्यों में लगा सकते हैं। उनके आंदोलन ने राष्ट्रवाद के संदेश को हरिजनों तक पहुंचाया। यह वह वर्ग था, जिसके अधिकांश सदस्य खेतिहर मजदूर थे तथा धीरे-धीरे किसान आंदोलन तथा राष्ट्रीय आंदोलन से जुड़ते जा रहे थे।

रणनीति पर बहस

सविनय अवज्ञा आंदोलन की वापसी के उपरांत राष्ट्रवादियों के मध्य भविष्य की रणनीति के संबंध में द्वि-स्तरीय बहस प्रारंभ हुई-प्रथम, निकट भविष्य में राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति कैसी हो तथा द्वितीय, 1935 के भारत सरकार अधिनियम के तहत होने वाले 1937 के आगामी प्रांतीय चुनावों में, सत्ता में भागेदारी के प्रश्न पर किस रणनीति का अनुगमन किया जाये।

प्रथम चरण की व्याख्या

इस चरण में तीन अवधारणायें सामने आयीं। इनमें से प्रथम दो परम्परागत प्रतिक्रियावादी अवधारणायें थी, जबकि तीसरी, कांग्रेस में सशक्त वामपंथी विचारों का प्रतिनिधित्व कर रही थी। ये तीनों अवधारणायें निम्नानुसार थी-

1. पहली अवधारणा के अनुसार, गांधीवाद की तर्ज पर रचनात्मक कार्य प्रारंभ किया जाये।

2. दूसरी अवधारणा के अनुसार, एक बार पुनः संवैधानिक तौर-तरीकों से संघर्ष प्रारंभ करना चाहिए। इस मत के समर्थक 1934 के भावी केंद्रीय विधान सभा के लिये होने वाले चुनावों में भाग लेने का भी समर्थन कर रहे थे। इस मत के समर्थकों में आसफ अली, सत्यमूर्ति, डा. एम.ए. अंसारी, भूलाभाई देसाई तथा बी.सी. राय प्रमुख थे। इन सभी का मत था कि-

राजनीतिक निराशा के इस दौर में, जबकि कांग्रेस जन-आंदोलन जारी रखने की अवस्था में नहीं है, उसे चुनावों में भाग लेकर विधानमंडल में प्रवेश करना चाहिए तथा राजनीतिक संघर्ष जारी रखना चाहिए, जिससे जनता का मनोबल गिरने न पाए।

चुनाव में भाग लेने का तात्पर्य यह नहीं है कि वे केवल संवैधानिक राजनीतिक संघर्ष के माध्यम से स्वतंत्रता प्राप्ति में विश्वास रखते हैं। इसका मतलब एक अन्य राजनीतिक मोर्चा प्रारंभ करना है।

इस नये राजनीतिक मोर्चे से कांग्रेस मजबूत होगी, जनता में उसका प्रभाव बढ़ेगा तथा जनता अगले दौर के आंदोलन के लिये तैयार हो सकेगी।

विधान मंडल में कांग्रेस की उपस्थिति उसे नये राजनीतिक संघर्ष के लिये उपयुक्त मंच प्रदान करेगी।

1. तीसरी अवधारणा का समर्थन कांग्रेस का सशक्त वामपंथी विचारों का समर्थक दल कर रहा था, जिसका नेतृत्व नेहरू के हाथों में था। यह गुट सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेकर उसके स्थान पर रचनात्मक कार्य प्रारंभ करने तथा विधान मंडल में भागेदारी, दोनों मतों का विरोधी था।

इनका मत था कि ये दोनों तरीके जन-आंदोलन को उसके पथ से विमुख कर देंगे तथा उपनिवेशी शासन के विरुद्ध संघर्ष के मुख्य मुद्दे से जनता का ध्यान दूसरी ओर मोड़ देंगे। ये जन-आंदोलन को जारी रखने के पक्षधर थे। इनका मानना था कि आर्थिक संकट का यह दौर क्रांतिकारी आंदोलन का उचित समय है तथा जनता संघर्ष के लिये पूरी तरह तैयार है।

नेहरू के विचार

नेहरू ने कहा कि “न केवल भारतीय जनता अपितु पूरे विश्व की जनता के सम्मुख इस समय मुख्य लक्ष्य पूंजीवाद का समूल उन्मूलन तथा समाजवाद की स्थापना है”। नेहरू के विचार से सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना, रचनात्मक कार्य प्रारंभ करना तथा संसद में भागेदारी करना एक प्रकार की आध्यात्मिक पराजय, आदर्शा का समर्पण तथा क्रांतिकारी पथ का परित्याग कर सुधारवादी पथ को अपनाने जैसा था।

उन्होंने सुझाव दिया कि समाज के वर्गीय चरित्र की वास्तविकता और वर्ग संघर्ष की महत्ता को स्वीकार करते हुये समाज के स्वार्थपरक तत्वों को जनसाधारण के हितों की ओर मोड़ा जाना चाहिए। जमींदारों तथा पूंजीपतियों के विरुद्ध मजदूरों तथा किसानों के संघर्ष तथा उनकी मांगों का समर्थन किया जाना चाहिए। उन्होंने तर्क दिया कि मजदूरों और किसानों को वर्गीय आधार पर संगठित किया जाए जिससे कांग्रेस इन संगठनों की गतिविधियों एवं नीतियों को निर्देशित कर सके। नेहरू का मानना था कि वर्ग संघर्ष के अभाव में वास्तविक साम्राज्यवाद-विरोधी आंदोलन नहीं चलाया जा सकता।

नेहरू द्वारा संघर्ष-समझौता-संघर्ष की रणनीति का विरोध

गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस के एक बड़े तबके का मानना था कि साम्राज्यवादी शासन के विरुद्ध पहले संवैधानिक तरीके से जबरदस्त संघर्ष प्रारंभ करके आंदोलन अचानक वापस ले लिया जाये, फिर सरकार के सुधारवादी कदमों से समझौता कर पुनः समय आने पर संघर्ष प्रारंभ कर दिया जाए। क्योंकि तीव्र संघर्ष के पश्चात् संघर्ष के सुप्तावस्था में आने पर जनसामान्य को अपनी सार्मथ्य बढ़ाने का मौका मिलेगा तथा सरकार को राष्ट्रवादी मांगों का प्रत्युत्तर देने का अवसर दिया जा सकेगा। जनसामान्य को अनिश्चितकालीन बलिदान की रणनीति नहीं अपनानी चाहिए। लेकिन यदि सरकार ने राष्ट्रवादी मांगों के संबंध में कोई सकारात्मक जवाब नहीं दिया तो जनसाधारण को पूरे सामर्थ्य से पुनः संघर्ष प्रारंभ कर देना चाहिए। इसे ही ‘संघर्ष-समझौता-संघर्ष की रणनीति’ कहते हैं।

नेहरू, संघर्ष-समझौता-संघर्ष की इस रणनीति से असहमत थे। उन्होंने तर्क दिया कि लाहौर अधिवेशन में पूर्णस्वराज्य के कार्यक्रम को तय किये जाने के पश्चात भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन उस अवस्था में पहुंच गया है, जहां हमें उपनिवेशिक सत्ता से तब तक संघर्ष करते रहना होगा, जब तक कि हम उसे पूर्णरूपेण उखाड़ फेंकने में सफल न हो जायें। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि कांग्रेस को 'निरंतर संघर्ष की नीति' का पालन करना चाहिए तथा उसे साम्राज्यवादी ढांचे से सहयोग एवं समझौते के जाल में नहीं फंसना चाहिए। उन्होंने कांग्रेस की चेताया कि अत्यंत शक्तिशाली औपनिवेशिक सत्ता को आने-चार आने की ताकत द्वारा पराजित नहीं किया जा सकता। अपितु इसके लिये सतत संघर्ष अपरिहार्य है। उन्होंने **संघर्ष-समझौता-संघर्ष** की रणनीति का विरोध करते हुये उसके स्थान पर **संघर्ष-विजय की रणनीति** का प्रतिपादन किया।

अंततः सत्ता में भागेदारी पर सहमति

इस समय भारतीय राष्ट्रवादी जहां एक ओर असमंजस की स्थिति में थे, वही दूसरी ओर ब्रिटिश हुकूमत यह मानकर चल रही थी कि कांग्रेस में सूरत विभाजन की तरह शीघ्र ही एक और विभाजन होना लगभग तय है। किंतु इस अवसर पर गांधीजी ने दूरदर्शितापूर्ण नीति अपनाकर कांग्रेस को विभाजित होने से बचा लिया। यह जानते हुए भी कि स्वतंत्रता प्राप्त करने का सबसे प्रमुख और एकमात्र तरीका सत्याग्रह ही है, उन्होंने कॉसिलों में भागेदारी के समर्थकों की मांगे स्वीकार कर लीं। उन्होंने कहा कि "संसदीय राजनीति से स्वतंत्रता हासिल नहीं की जा सकती किंतु वे सभी कांग्रेस जन जो न तो स्वयं को रचनात्मक कार्यों में लगा सकते और न ही सत्याग्रह में भाग ले सकते, वे सभी संसदीय राजनीति के माध्यम से स्वयं को सक्रिय बनाये रख सकते हैं बशर्ते कि वे संविधानवादी या सुविधावादी न बन जायें"। साथ ही गांधीजी ने वामपंथियों को आश्वस्त करते हुये भी कहा कि "सविनय अवज्ञा आंदोलन को वापस लेना आवश्यक एवं तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में उचित कदम था, लेकिन इसका तात्पर्य राजनीतिक अवसरवादिता के सम्मुख समर्पण या साम्राज्यवाद से समझौता नहीं है"।

मई 1934 में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन पटना में हुआ, जहां चुनाव में भाग लेने के लिये एक संसदीय बोर्ड का गठन किया गया। गांधीजी ने महसूस किया कि कांग्रेस में उभर रही सबसे सशक्त धारा से वह कट से गये हैं। वे जानते थे कि बुद्धजीवी वर्ग का एक बड़ा तबका संसदीय राजनीति के पक्ष में है, जबकि वे मौलिक तौर पर संसदीय राजनीति के विरोधी थे। बुद्धिजीवी वर्ग का दूसरा खेमा गांधी जी के रचनात्मक कार्यों यथा-चरखा कातने इत्यादि से असहमत था, जिसे गांधीजी 'राष्ट्र का दूसरा हृदय' कहते थे। जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में समाजवादी गुट भी गांधीजी की नीतियों से असहमत था। इसी कारण **1934 में गांधीजी ने कांग्रेस से इस्तीफा** दे दिया और कहा कि वे "कांग्रेस एवं उसमें उभरती नयी विचारधारा पर नैतिक दबाव डालकर उसे रोकना नहीं चाहता क्योंकि यह मेरे अहिंसा के सिद्धांत के विपरीत है"।

नेहरू और समाजवादियों ने भी राष्ट्रीय हितों को सर्वोपरि रखा। कांग्रेस के विरोधियों का मत था कि नेहरू एवं समाजवादियों के द्वारा कांग्रेस में किये जा रहे मौलिक परिवर्तनों से कांग्रेस विभाजित हो जायेगी, किंतु ऐसा नहीं हुआ। नेहरू एवं समाजवादियों ने इस खतरे को भांपकर अपनी प्राथमिकतायें तय कर लीं। उनका मत था कि सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ करने से पहले उपनिवेशी शासन को समाप्त करना आवश्यक है तथा साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में कांग्रेस का सहयोग करना जरूरी है। क्योंकि कांग्रेस ही भारतीयों का एकमात्र प्रमुख संगठन है।

नेहरू एवं समाजवादियों का तर्क था कि वैचारिक या राजनीतिक शुद्धीकरण के नाम पर कांग्रेस से त्यागपत्र देने या उससे नाता तोड़ने की बजाय कांग्रेस में रहकर उसे जुझारू चरित्र प्रदान करना कहीं ज्यादा आवश्यक है। दक्षिणपंथियों ने भी इस मसले पर सही रणनीति अपनायी। नवंबर 1934 में केंद्रीय विधान सभा के लिये हुये चुनाव में कांग्रेस ने प्रशंसनीय प्रदर्शन करते हुये भारतीयों के लिये आरक्षित 75 सीटों में से 45 सीटें जीत लीं।

पूना पैक्ट के आधार पर 88 साल बीत जाने के बाद भी ऐसे कई भारतीय बुद्धिजीवी हैं जो गांधी जी और कांग्रेस पर वादाखिलाफी का आरोप लगाते हैं। उनमें से बहुत का मानना रहा है कि एक ऐतिहासिक मौके पर गांधी जी और कांग्रेस ने दलितों के साथ धोखा किया। ऐसे ही बुद्धिजीवियों में से एक दारापुरी साहब का नुक्ता-ए-नज़र पेश है। प्रदत्त लिंक पर जाकर संबन्धित जानकारी की पुष्टि की जा सकती है।

पूना पैक्ट: अम्बेडकर के साथ गांधी का बड़ा धोखा

एस. आर. दारापुरी (September 24, 2019)

वर्तमान में वे भारत की कुल आबादी का लगभग छठा भाग (16.20 %) तथा कुल हिन्दू आबादी का पांचवा भाग (20.13 %) हैं। अछूत सदियों से हिन्दू समाज में सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक व शैक्षिक अधिकारों से वंचित रहे हैं और काफी हद तक आज भी हैं। जब देश के आजादी की चर्चा चल रही थी, उसी दरम्यान सन् 1928 में साईमन कमीशन ने स्वीकार किया कि डिप्रेस्ड क्लासेज को पर्याप्त प्रातिनिधित्व दिया जाना चाहिए। सन 1930 से 1932 एक लन्दन में तीन गोलमेज़ कांफ्रेंस हुए जिनमें अन्य अल्पसंख्यकों के साथ-साथ दलितों के भी भारत के भावी संविधान के निर्माण में अपना मत देने के अधिकार को मान्यता मिली। यह एक ऐतिहासिक एवं निर्णायक परिघटना थी। इन गोलमेज़ कांफ्रेंसों में डॉ. बी. आर. अम्बेडकर तथा राव बहादुर आर. श्रीनिवासन के दलितों के प्रभावकारी प्रतिनिधित्व एवं ज़ोरदार प्रस्तुति के कारण 17 अगस्त, 1932 को ब्रिटिश सरकार द्वारा घोषित 'कम्युनल अवार्ड' में पृथक निर्वाचन का स्वतन्त्र राजनीतिक अधिकार मिला। इस अवार्ड से दलितों को आरक्षित सीटों पर पृथक निर्वाचन द्वारा अपने प्रतिनिधि खुद चुनने का अधिकार मिला और साथ ही सामान्य जाति के निर्वाचन क्षेत्रों में सवर्णों को चुनने हेतु दो वोट का अधिकार भी प्राप्त हुआ। इस प्रकार भारत के इतिहास में अछूतों को पहली बार राजनैतिक स्वतंत्रता का अधिकार प्राप्त हुआ जो उनकी मुक्ति का मार्ग प्रशस्त का सकता था।

उक्त अवार्ड द्वारा दलितों को गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, 1919 में अल्पसंख्यकों के रूप में मिली मान्यता के आधार पर अन्य अल्पसंख्यकों यथा, मुसलमानों, सिक्खों, ऐंग्लो इंडियनज तथा कुछ अन्य के साथ-साथ पृथक निर्वाचन के रूप में प्रांतीय विधायिकाओं एवं केन्द्रीय एसेम्बली हेतु अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने का अधिकार मिला तथा उन सभी के लिए सीटों की संख्या निश्चित की गयी। इसमें अछूतों के लिए 78 सीटें विशेष निर्वाचन क्षेत्रों के रूप में आरक्षित की गयी। गाँधी जी ने उक्त अवार्ड की घोषणा होने पर यरवदा (पूना) जेल में 18 अगस्त, 1932 को दलितों को मिले पृथक निर्वाचन के अधिकार के विरोध में 20 सितम्बर, 1932 से आमरण अनशन करने की घोषणा कर दी। गांधी जी का मत था कि इससे अछूत हिन्दू समाज से अलग हो जायेंगे जिससे हिन्दू समाज व हिन्दू धर्म विघटित हो जायेगा।

यह ज्ञातव्य है कि उन्होंने मुसलमानों, सिक्खों व ऐंग्लो- इंडियनज को मिले उसी अधिकार का कोई विरोध नहीं किया था। गाँधी ने इस अंदेसे को लेकर 18 अगस्त, 1932 को तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री, श्री रेम्जे मैकडोनाल्ड को एक पत्र भेज कर दलितों को दिए गए पृथक निर्वाचन को समाप्त करके संयुक्त मताधिकार की व्यवस्था करने तथा हिन्दू समाज को विघटन से बचाने की अपील की जिसके उत्तर में ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने अपने पत्र दिनांक 8 सितम्बर, 1932 में लिखा कि इसमें कहा गया, " ब्रिटिश सरकार की योजना के अंतर्गत दलित वर्ग हिन्दू समाज के अंग बने रहेंगे और वे हिन्दू निर्वाचन के लिए समान रूप से मतदान करेंगे, परन्तु ऐसी व्यवस्था प्रथम 20 वर्षों तक रहेगी ताकि हिन्दू समाज का अंग रहते हुए उनके लिए सीमित संख्या में विशेष निर्वाचन क्षेत्र होंगे जिसमें उनके अधिकारों और हितों की रक्षा हो सके। वर्तमान स्थिति में ऐसा करना नितांत आवश्यक हो गया है।

जहाँ जहाँ विशेष निर्वाचन क्षेत्र होंगे वहाँ वहाँ सामान्य हिन्दुओं के निर्वाचन क्षेत्रों में दलित वर्गों को मत देने से वंचित नहीं किया जायेगा। इस प्रकार दलितों के लिए दो मतों का अधिकार होगा – एक विशेष निर्वाचन क्षेत्र के अपने सदस्य के लिए और दूसरा हिन्दू समाज के सामान्य सदस्य के लिए। हमने जानबूझ कर- जिसे आप ने अछूतों के लिए सम्प्रदायक

निर्वाचन कहा है, उसके विपरीत फैसला दिया है. दलित वर्ग के मतदाता सामान्य अथवा हिन्दू निर्वाचन क्षेत्रों में सवर्ण उमीदवार को मत दे सकेंगे तथा सवर्ण हिन्दू मतदाता दलित वर्ग के उमीदवार को उसके निर्वाचन क्षेत्र में मतदान कर सकेंगे. इस प्रकार हिन्दू समाज की एकता को सुरक्षित रखा गया है.” कुछ अन्य तर्क देने के बाद उन्होंने गाँधी जी से आमरण अनशन छोड़ने का आग्रह किया था.

परन्तु गाँधी जी ने प्रत्युत्तर में आमरण अनशन को अपना पुनीत धर्म मानते हुए कहा कि दलित वर्गों को केवल दोहरे मतदान का अधिकार देने से उन्हें तथा हिन्दू समाज को छिन्न- भिन्न होने से नहीं रोका जा सकता. उन्होंने आगे कहा, “मेरी समझ में दलित वर्ग के लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था करना हिन्दू धर्म को बर्बाद करने का इंजेक्शन लगाना है. इस से दलित वर्गों का कोई लाभ नहीं होगा.” गाँधीजी ने इसी प्रकार के तर्क दूसरे और तीसरे गोलमेज़ कांफ्रेंस में भी दिए थे जिसके प्रत्युत्तर में डॉ. आम्बेडकर ने गाँधी के दलितों के अकेले प्रतिनिधि और उनके शुभ चिन्तक होने के दावे को नकारते हुए उनसे दलितों के राजनीतिक अधिकारों का विरोध न करने का अनुरोध किया था. उन्होंने यह भी कहा था कि फिलहाल दलित केवल स्वतन्त्र राजनीतिक अधिकारों की ही मांग कर रहे हैं न कि हिन्दुओं से अलग होकर अलग देश बनाने की. परन्तु गाँधीजी का सवर्ण हिन्दुओं के हित को सुरक्षित रखने और अछूतों का हिन्दू समाज का गुलाम बनाये रखने का स्वार्थ था. यही कारण था कि उन्होंने सभी तथ्यों व तर्कों को नकारते हुए 20 सितम्बर, 1932 को अछूतों के पृथक निर्वाचन के अधिकार के विरुद्ध आमरण अनशन शुरू कर दिया.

यह एक विकट स्थिति थी. एक तरफ गाँधी के पक्ष में एक विशाल शक्तिशाली हिन्दू समुदाय था, दूसरी तरफ डॉ. आम्बेडकर और अछूत समाज. अंततः भारी दबाव एवं अछूतों के संभव जनसंहार के भय से गाँधीजी की जान बचाने के उद्देश्य से डॉ. आम्बेडकर तथा उसके साथियों को दलितों के पृथक निर्वाचन के अधिकार की बलि देनी पड़ी और सवर्ण हिन्दुओं से 24 सितम्बर, 1932 को तथाकथित पूना पैक्ट करना पड़ा. इस प्रकार अछूतों को गाँधी जी की जिद्द के कारण अपनी राजनैतिक आज़ादी के अधिकार को खोना पड़ा.

यद्यपि पूना पैक्ट के अनुसार दलितों के लिए ‘कम्युनल अवार्ड’ में सरक्षित सीटों की संख्या बढ़ा कर 78 से 151 हो गयी परन्तु संयुक्त निर्वाचन के कारण उनसे अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने का अधिकार छिन गया जिसके दुष्परिणाम आज तक दलित समाज झेल रहा है. पूना पैक्ट के प्रावधानों को गवर्नमेंट आफ इंडिया एक्ट, 1935 में शामिल करने के बाद सन 1937 में प्रथम चुनाव संपन्न हुआ जिसमें गाँधीजी के दलित प्रतिनिधियों को कांग्रेस द्वारा कोई भी दखल न देने के दिए गए आश्वासन के बावजूद कांग्रेस ने 151 में से 78 सीटें हथिया ली क्योंकि संयुक्त निर्वाचन प्रणाली में दलित पुनः सवर्ण वोटों पर निर्भर हो गए थे. गाँधी जी और कांग्रेस के इस छल से खिन्न होकर डॉ. आम्बेडकर ने कहा था, “पूना पैक्ट में दलितों के साथ बहुत बड़ा धोखा हुआ है.”

कम्युनल अवार्ड के माध्यम से अछूतों को जो पृथक निर्वाचन के रूप में अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने और दोहरे वोट के अधिकार से सवर्ण हिन्दुओं की भी दलितों पर निर्भरता से दलितों का स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व सुरक्षित रह सकता था परन्तु पूना पैक्ट करने की विवशता ने दलितों को फिर से सवर्ण हिन्दुओं का गुलाम बना दिया. इस ब्यस्था से आरक्षित सीटों पर जो सांसद या विधायक चुने जाते हैं वे वास्तव में दलितों द्वारा न चुने जा कर विभिन्न राजनैतिक पार्टियों एवं सवर्णों द्वारा चुने जाते हैं जिन्हें उनका गुलाम/ बंधुआ बन कर रहना पड़ता है. सभी राजनैतिक पार्टियां गुलाम मानसिकता वाले ऐसे प्रतिनिधियों पर कड़ा नियंत्रण रखती हैं और पार्टी लाइन से हट कर किसी भी दलित मुद्दे को उठाने या बोलने की इजाजत नहीं देती. यही कारण है कि लोकसभा तथा विधान सभाओं में दलित प्रतिनिधियों की स्थिति महाभारत के भीष्म पितामह जैसी रहती है जिनसे यह पूछने पर कि “जब कौरवों के दरबार में द्रौपदी का चीर हरण हो रहा था तो आप क्यों नहीं बोले?” इस पर उनका उत्तर था, “मैंने कौरवों का नमक खाया था.”

वास्तव में कम्युनल अवार्ड से दलितों को स्वतंत्र राजनैतिक अधिकार प्राप्त हुए थे जिससे वे अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनने के लिए सक्षम हो गए थे और वे उनकी आवाज़ बन सकते थे. इस के साथ ही दोहरे वोट के अधिकार के कारण सामान्य निर्वाचन क्षेत्र में सवर्ण हिन्दू भी उनपर निर्भर रहते और दलितों को नाराज़ करने की हिम्मत नहीं करते. इससे हिन्दू समाज में एक नया समीकरण बन सकता था जो दलित मुक्ति का रास्ता प्रशस्त करता. परन्तु गाँधीजी ने हिन्दू समाज और हिन्दू धर्म के विघटित होने कि झूठी दुहाई देकर तथा आमरण अनशन का अनैतिक हथकंडा अपना कर दलितों की राजनीतिक स्वतंत्रता का हनन कर लिया जिस कारण दलित सवर्णों के फिर से राजनीतिक गुलाम बन गए.

दलितों की संयुक्त मताधिकार व्यवस्था के कारण सवर्ण हिन्दुओं पर निर्भरता के कारण दलितों की कोई भी राजनैतिक पार्टी पनप नहीं पा रही है. चाहे वह डॉ. आम्बेडकर द्वारा स्थापित रिपब्लिकन पार्टी ही क्यों न हो. इसी कारण डॉ. आम्बेडकर को भी दो बार चुनाव में हार का मुंह देखना पड़ा क्योंकि आरक्षित सीटों पर भी सवर्ण वोट ही निर्णायक होता है. इसी कारण सवर्ण पार्टियाँ ही अधिकतर आरक्षित सीटें जीतती हैं. पूना पैक्ट के इन्ही दुष्परिणामों के कारण ही डॉ. आम्बेडकर ने संविधान में राजनैतिक आरक्षण को केवल 10 वर्ष तक ही जारी रखने की बात कही थी. परन्तु विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ इसे दलितों के हित में नहीं बल्कि अपने स्वार्थ के लिए अब तक लगातार 10-10 वर्ष तक बढ़ाती चली आ रही हैं क्योंकि इससे उन्हें अपने मनपसंद और गुलाम सांसद और विधायक चुनने की सुविधा रहती है.